काश सिपाही बोल पातेः जन सामान्य को सुरक्षा प्रदान करने में लगातार विफल रहने पर टिप्पणियाँ और भारतीय नीतियों में सुधार

If the Constable Could Speak: Notes on a Continuing Failure to Secure the Masses and Reform the Police in India

बीट्रिस जॉरेगुई
Beatrice Jauregui
12.7.09

वर्ष 2007 में इलाहाबाद में ड्यूटी पर तैनात एक सिपाही ने मुझसे अपनी नौकरी पर टिप्पणी करते हुए कहा था, "**यह नौकरी अनुशासन के नाम पर शोषण है**." उसकी यह टिप्पणी वास्तव में इस नौकरी के बारे में अनेक शिकायतों का पुलिंदा है. ऐसी टिप्पणियाँ मैंने कितने ही सिपाहियों से सुनी हैं: वेतन बेहद कम है, ड्यूटी के घंटे बहुत लंबे और अनिश्चित होते हैं, पदोन्नति के अवसर न के बराबर हैं. रहने की कोई साफ़-सुथरी, सुरक्षित और किफ़ायती व्यवस्था नहीं है और हथियार कतई भरोसेमंद नहीं होते और "अच्छी तरह काम करने" के लायक भी नहीं होते.

इतने खराब और कठोर हालात के अलावा भी उत्तर प्रदेश और देश के दूसरे इलाकों के सिपाही कुछ ऐसी बातें बताते हैं जो बेहद शर्मनाक होती हैं. सिपाहियों को अक्सर अपना वेतन और भत्ता पाने के लिए क्लर्कों को घूस देनी पड़ती है. अपनी नौकरी बनाए रखने के लिए उन्हें प्रभावशाली लोगों के लिए गैर-कानूनी काम भी करने पड़ते हैं और अक्सर अपनी ड्यूटी निभाने के लिए उन्हें अपनी जेब से ही कुछ न कुछ खर्च करना पड़ता है. अपने अनेक अफसरों से उन्हें गाली-गलौच और लातें और जूते भी खाने पड़ते हैं और ये लोग इन सिपाहियों को वे काम भी करने के लिए बाध्य करते हैं जो उनकी "ड्यूटी में नहीं" आते, जैसे उनके कुत्तों को घुमाना, उनके निजी शौचालय साफ़ करना, उनके बगीचों की देखभाल करना, या फिर उनके बच्चों को जूते पहनाना और उन्हें स्कूल लाना-ले जाना. एक बार तो मुझे कुछ सिपाहियों ने बताया कि उनके तीन साथी सिपाही तो मर भी गए. उनकी मृत्यु ड्यूटी पर किसी संदिग्ध अपराधी के साथ हुई मुठभेड़ के दौरान नाटकीय गोलीबारी में नहीं हुई बल्कि भीषण सर्दी लग जाने और उनकी उपेक्षा के कारण हुई.

दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इस तरह की घटनाएँ भारतीय नागरिकों को न तो विचलित और स्तब्ध करती हैं और न ही व्यवस्था में सुधार लाने के लिए मिल जुलकर

प्रयास करने के लिए उकसाती हैं. सिपाहियों की ऐसी शर्मनाक ज़िंदगी के हालात हमारे लिए न तो नए हैं और न ही ये समस्याएँ हमारे लिए अनजानी हैं. हम यह भी जानते हैं कि इन हालातों के कारण ही रोज़मर्रे के पुलिस के काम में अकुशलता, अपर्याप्तता और गैर-बराबरी का बोलबाला है. यहाँ तक कि केंद्रीय गृह मंत्री श्री पी. चिदंबरम ने भी हाल ही में यह स्वीकार किया कि सिपाही पुलिस बल का सबसे अधिक गाली खाने वाला और समकालीन भारत का "सबसे अधिक दुत्कारा जाने वाला" सरकारी सेवक है. इस सबके बावजूद देश के अधिकांश राज्यों में आज़ादी के बाद के दशकों में औसत पुलिस अधिकारी के हालात बदलने के लिए कोई खास उपाय नहीं किए गए हैं.

सिपाहियों के हालात को बदलने के लिए आश्वासन तो बहुत दिए जाते हैं,लेकिन फिर भी हालात जस के तस बने रहते हैं. इन्हें बदलने के लिए कोई पहल क्यों नहीं की जाती?. इस सवाल का कोई एक जवाब नहीं है. इस "गई-बीती नीतिगत प्रणाली" को बनाए रखने के लिए विश्लेषक और नीति-निर्माता यही रटा-रटाया स्पष्टीकरण देते हैं और इनमें से कोई न कोई स्पष्टीकरण कमोबेश अधीनस्थ पदों पर काम करने वाले सभी कोटियों के कर्मचारियों पर पूरी तरह लागू होता हैः

- सरकार के पास इस व्यवस्था में बदलाव लाने के लिए वित्तीय और अन्य संसाधन नहीं हैं.
- "राजनैतिक हस्तक्षेप" की इस व्यवस्था को सभी रैंक के पुलिसकर्मियों में ज्यों का त्यों बनाए रखने में ही अति महत्वपूर्ण लोगों के न्यस्त स्वार्थ हैं.
- भारतीय संविधान (अनुच्छेद 246 की सातवीं अनुसूची, पॉइंट 1, सूची II) के अनुसार "कानून और व्यवस्था" "राज्य सरकार की विषय सूची" में है. इसलिए जब भी केंद्र सरकार इसमें सुधार लाने के लिए कोई प्रयास करती है तो राज्य सरकारें इसे "राजनैतिक हस्तक्षेप" मानकर इसका विरोध करती हैं.
- जनता आम तौर पर सेवा और मानवाधिकार के उल्लंघन संबंधी खराब रिकॉर्ड के कारण पुलिस से डरती है और नफ़रत भी करती है. यही कारण है कि जनता को पुलिस पर भरोसा नहीं है और निराशा का यह आलम है कि वह यह समझती है कि पुलिस तंत्र में संशोधन की कोई गुंजाइश ही नहीं है.

इन सभी निष्कर्षों में सच का कमोबेश कुछ अंश तो है ही. लेकिन हर निष्कर्ष में सच आंशिक रूप में ही मौजूद है. सच और वास्तविकता का दूसरा चेहरा इतना पारदर्शी नहीं है और कदाचित् यही कारण है कि यह चेहरा बहुत रुचिकर नहीं लगता और इसे अक्सर अस्वीकार कर दिया जाता है या टाल दिया जाता है.

यह वास्तविकता उस सिपाही के शब्दों में छिपी है जो मुझे चिर-परिचित "पुलिस की दुर्दशा" पर अपनी व्यथा-कथा सुनाते हुए सवाल करता है, "हम अपनी समस्याओं के बारे में किससे शिकायत करें? जिनसे हमें शिकायत करनी है और जिनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे इन शिकायतों को सुनकर हमारी सहायता करेंगे, वही तो हमारी दुर्दशा और उपेक्षा के लिए ज़िम्मेदार हैं."

श्री पी. चिदंबरम ने जिस सिपाही को "सबसे अधिक दुत्कारा जाने वाला" सरकारी सेवक कहा है, बहुत पहले विधिवेत्ता लेखक उपेंद्र बख्शी ने 1982 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में भारतीय पुलिस बल के उसी अधीनस्थ सिपाही को "तिरस्कृत अल्पसंख्यक" कहा था. इस संबोधन में कुछ कठोर वास्तविकताएँ छिपी हुई हैं. पुलिस तंत्र में सुधार को लेकर जब भी कोई चर्चा हो तो इन तथ्यों को अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिेए. वर्ग और जातिगत असमानताएँ जैसी समस्याएँ तो हैं ही और खंडित निर्वाचन मंडल के कारण बहुदलीय राजनीति के माध्यम से सबको साथ लेकर चलना भी संभव नहीं हो पाता. ऐसी स्थिति में बिखरे हुए शासकीय नेतृत्व में और जन सामान्य में भी अनिच्छा बनी रहती है और ये लोग एक सिपाही के दुःख-दर्द को न तो सुनने के लिए तैयार होते हैं और न ही सिपाही के नज़रिए से उसकी दुर्दशा को समझना चाहते हैं और न ही उनके हालात और पुलिस तंत्र में सुधार लाने के लिए उ्न्हें मेज़ पर लाकर चर्चा ही करना चाहते हैं.

तीस साल पहले राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया था, "सिपाही पुलिस संगठन की बुनियाद का मूल आधार है. पुलिस तंत्र में कोई भी सुधार तब तक सार्थक रूप में कारगर नहीं हो सकता जब तक कि सिपाही के स्तर पर सुधार न किए जाएँ. पुलिस तंत्र की पुनर्संरचना तब तक व्यावहारिक और स्थायी नहीं हो सकती जब तक कि इसके व्यापक मूल आधार को स्वस्थ और कुशल न बनाया जाए."

इसके अलावा इस रिपोर्ट के लेखक ने एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात भी लिखी हैः
"ऐतिहासिक कारणों से [सिपाहियों] का वेतनमान अकुशल श्रमिकों के समकक्ष रखा गया है. इसलिए वे ही नाकारा किस्म के उम्मीदवार सिपाही के रूप में भर्ती होने के लिए आगे आते हैं जिन्हें कोई और काम नहीं मिलता. ऐसे बेकार लोगों के नमूनों से भरा पुलिस बल इस काम के लिए निर्धारित न्यूनतम मानदंडों तक भी

नहीं पहुँच सकता और इसके फलस्वरूप पुलिस सेवा की गुणवत्ता पर असर होता है और जनता को इसका परिणाम भुगतना पड़ता है... " (इस पर ज़ोर दिया गया है)

राष्ट्रीय पुलिस आयोग की रिपोर्ट के उत्तरार्ध के इस अंश को उद्धृत करने का यह मतलब नहीं है कि मैं इससे सहमत हूँ बल्कि इसका आशय उस सामान्य धारणा को दर्शाना है जो जनसामान्य में प्रचलित है. यह धारणा है कि सिपाही के रूप में भर्ती होने के लिए इच्छुक लोग "मानवता के ऐसे घटिया नमूने" हैं, जो स्वभाव से ही निम्न स्तर के होते हैं. हज़ारों पुलिसकर्मी (जिनमें उनके परिवारजन और मित्र शामिल नहीं हैं) ऐसे हैं जो इस धारणा से सहमत नहीं होंगे. इनमें से कितने ही पुलिसकर्मी ऐसे हैं जो कई दशकों से इस इंतज़ार में बैठे हैं कि उनकी आवाज़ सुनी जाए. इसके लिए उन्होंने अपने पेशे से जुड़े कर्मचारियों की यूनियन भी बनाने की कोशिश की और कभी-कभी विरोध प्रदर्शन और हडताल भी करने की कोशिश की. ऐसे कई प्रकार के कानून हैं, विशेषकर पुलिस बल (अधिकारों पर प्रतिबंध) अधिनियम, 1966, जिनके तहत पुलिसकर्मियों के लिए अपनी यूनियन बनाने पर प्रतिबंध है. इसके बावजूद जुलाई 2009 में कुछ सिपाहियों ने अपने जीवन स्तर और कामकाज के स्तर में सुधार लाने के लिए यूनियन बनाने की अनुमति माँगने की कोशिश जारी रखी है. अब तक उन्हें अपने प्रयासों में कामयाबी नहीं मिली है.

कई सिपाहियों को लगता है कि उनकी सरकार ने उनके साथ धोखा किया है. प्रत्येक राज्य के पुलिसबल में 80 से 90 प्रतिशत पुलिसकर्मी सिपाही होते हैं. इसलिए वे पुलिसबल के "चेहरे" के रूप में पहचाने जाते हैं. इसलिए उनके भीतर यदि आक्रोश और घृणा पनपती है तो सारा संगठन ही इससे प्रभावित होता है. बहुत से बदनाम पुलिसकर्मी कभी-कभी आम लोगों की धारणा के अनुकूल सचमुच ही घटिया बर्ताव करते हैं. उनसे अपेक्षा तो की जाती है कि वे अपराधों, आतंकवाद और सामान्य अव्यवस्था से जनता की रक्षा करेंगे. उनकी आड़ में वरिष्ठ पुलिसकर्मी अपने आपको सुरक्षित महसूस करते हैं. हाल ही में मानवाधिकार की कुछ निगरानी समितियों ने विशेषकर नवंबर,2008 में मुंबई हमले के बाद सिपाहियों के जीवन की शोचनीय अवस्था के बारे में बहुत हद तक ध्यान आकर्षित किया है. इसके कारण लोगों ने सामूहिक रूप में इस बात को लेकर आक्रोश प्रकट किया है कि हमारा पुलिसबल न तो अच्छी तरह प्रशिक्षित है और

न ही उनके पास अच्छे हथियार हैं और यही कारण है कि वे जनता को सुरक्षा प्रदान करने में विफल रहे हैं. लेकिन लगता है कि गैर-सरकारी संगठनों और मीडिया के ये प्रयास भी पर्याप्त नहीं हैं. इसके अलावा पुलिस तंत्र के सुधार के बारे में वर्ष 2006 में उच्चतम न्यायालय द्वारा जारी किए गए निर्देश भी काफ़ी नहीं हैं, क्योंकि वे भी अधिकांशतः वरिष्ठ अधिकारियों की समस्याओं और जनता पर पुलिस की ज़्यादतियों के बारे में ही हैं. 2006 के आदर्श पुलिस अधिनियम में सिपाहियों का पदनाम बदलकर "सिविल पुलिस अधिकारी" करने और उनके प्रशिक्षण, शिक्षा और कार्य संबंधी अपेक्षाओं में बढ़ोतरी करने की सिफ़ारिश की गई है, लेकिन यह भी पर्याप्त नहीं है.

इन तमाम समस्याओं के समाधान के लिए कोई जादुई चिराग नहीं है, लेकिन एक प्रस्ताव है कि जब भी कभी पुलिस तंत्र के सुधार को लेकर मेज़ पर कोई चर्चा की जाए तो सिपाहियों (और सब-इन्सपेक्टरों) को भी विचार-विमर्श में अवश्य ही हर बार सहभागी बनाया जाए.

बीट्रिस जॉरेगुई एक सांस्कृतिक मानव विज्ञानी हैं और उच्च भारतीय अध्ययन केंद्र में विज़िटिंग फ़ैलो हैं. वे दो वर्षों तक उत्तर प्रदेश और दिल्ली में पुलिस के साथ रहकर काम करती रही हैं.

हिंदी अनुवादः विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा),रेल मंत्रालय, भारत सरकार

<malhotravk@gmail.com>